स्वदेश-परिचय-माला

भारतीय

संगीत की कहानी

लेखक

भगवतशरण उपाध्याय

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

मूल्य : एक रुपया चार आना (१·२५)

प्रथम संस्करण : अक्तूबर, १९५७

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मुद्रक : युगान्तर प्रेस, मोरी गेट, दिल्ली

विषय-सूची

१. संगीत की कहानी ... ५
२. शास्त्रीय संगीत ... १०
३. देशी संगीत ... २६
४. लोकगीत ... ३३
५. बाजे ... ४४
६. नृत्य ... ५५

संगीत की कहानी

गाने, बजाने और नाचने को संगीत कहते हैं। संगीत नाम इन तीनों के एक साथ व्यवहार से पड़ा है। गाना, बजाना और नाचना करीब-करीब इतने पुराने हैं जितना पुराना आदमी है। संभव है, बजाने और बाजे की कला आदमी ने कुछ बाद में खोजी-सीखी हो पर गाने और नाचने का आरंभ तो न केवल हजारों बल्कि लाखों बरस पहले उसने कर लिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

आदमी के विकास का विचार और अध्ययन करने वाले पंडितों का तो विश्वास है कि मनुष्य ने बोलना सीखने से भी पहले नाचने का अभ्यास कर लिया था।

जाहिर है कि नृत्य या नाचने के काम में कंठ और बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। इससे बोलना या गाना सीखने या विकसित करने में जो इतना समय लगा है उसकी आवश्यकता नृत्य के विकास में न पड़ी होगी। आनन्द के क्षण में आदमी स्वाभाविक ही थिरक पड़ा होगा और धीरे-धीरे सुख-प्रकाशन की यह एक स्थायी चेष्टा बन गई होगी।

गाने का सम्बन्ध कंठ और स्वर से है। गाने के पहले बोल सकना अनिवार्य था। बोलना, अच्छे प्रकार बोलना और तब आवाज को हवा पर लहरा कर एक प्रकार के सुख का अनुभव करना बाद की बात थी। जो भी हो, जिस रूप में हम गायन को आज जानते हैं स्वयं उसका आरंभ भी आज से कोई हजारों साल पहले हो गया होगा।

बाजा बजाना बेशक गाने और नाचने के बाद की चीज है और उसका विकास हुआ भी उनके बाद ही पर उसका आरम्भ भी कुछ हाल का नहीं है—बीसों हजार साल पुरानी बात है। संसार की प्राचीन से प्राचीन खोजी-खोदी हुई सभ्यता में बाजा किसी न किसी रूप में मिला है। इससे उसकी प्राचीनता भी प्रमाणित है।

हमारे देश के देवता शिव और पार्वती का संबन्ध संगीत के आरंभ से जोड़ा जाता है। शिव और पार्वती

भावमय गान और नृत्य करते हैं। शिव के एक हाथ में डमरू का होना बाजे की प्राचीनता भी सिद्ध करता है। आनन्द के उल्लास में शिव और पार्वती दोनों नाच उठते हैं। इस प्रकार की शिव-पार्वती की अनेक मूर्तियाँ तो हमारे संग्रहालयों में भरी पड़ी हैं। दक्षिण भारत की नटराज शिव की मूर्तियाँ तो अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय हैं। वह नृत्य ताण्डव कहा गया है। नीचे पड़े हुए काल-पुरुष पर खड़े हुए शिव अद्भुत वेग से नाचते हैं। काल जैसे उनके पैरों के नीचे मर चुका है। काल और देश के परे की जो कल्पना शिव की की गई है, काल-पुरुष के तन पर शिव का नाचना उसके अनुकूल ही है। शिव का नृत्य काल को इस प्रकार लाँघ जाता है।

शिव-पार्वती नृत्य

इस प्रकार केवल आनन्द से गाने-नाच उठने और बजाने की प्रथा चाहे जितनी पुरानी हो पर उनका कला के रूप में विकास इतना पुराना नहीं, केवल कुछ हजार वर्षों का ही

शिव का ताण्डव नृत्य

है। आनन्द और उल्लास की बहती हुई धारा को कला की ऊँचाई या स्तर तक पहुँचने में समय लगता है, बड़ी साधना की

जरूरत होती है। दिन-रात के निरन्तर अभ्यास से कला सधती और सीमाओं में बँधती है। तभी उसका सही अध्ययन और विकास भी हो पाता है, वरना भला लहराती आवाज़ और थिरकते पैरों को कोई क्या बाँध पाता!

पर इनको सीमा और परिधि में बाँध देना ही कला है। जब हम एक राग-स्वर को बार-बार एक ही रूप में, एक ही मान-विस्तार में गाते हैं तब उस राग या स्वर की संज्ञा कला होती है। यकायक गा उठना बनैले मानव की प्रवृत्ति है। सभ्य मानव उसी को अभ्यास से कला बना लेता है। यही बात नृत्य के सम्बन्ध में भी सही है। जब प्रसन्न वन-मानव अपने अभ्यास और साधना से विभोर अपने पैरों में गति भर लाता है, थिरक उठता है तब वह नाच का आरंभ करता है। पर नाच को अपने अभ्यास और साधना से कला की संज्ञा तो सभ्य मानव ही देता है। बहती हुई धारा को सीमाओं में बाँधकर उसे बार-बार इच्छानुसार एक ही रूप में उतार लेना ही कला है।

इस दृष्टि से हम नीचे गायन, वादन और नर्तन—गाना, बजाना और नाचना—का कला के रूप में विचार करेंगे। ये तीनों एक साथ भी साधे जाते हैं, स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग भी। हम यहाँ उन पर अलग-अलग ही विचार करेंगे, और चूँकि गाना और बजाना एक दूसरे से अधिक निकट हैं, अधिक लोकप्रिय भी हैं, हम पहले उन्हीं की चर्चा करेंगे।

२. शास्त्रीय संगीत

भारतीय संगीत या गायन के वैसे तो अनेक भेद हैं पर यहाँ हम प्रधानतः दो-तीन की चर्चा करेंगे। वास्तव में ये भेद दो ही प्रकार के हैं—मार्ग और देशी। मार्ग शास्त्रीय गायन को कहते हैं, देशी साधारणतः लोकगीतों को। इनके अतिरिक्त अमरीकी या यूरोपीय फ़िल्मों के राग-स्वर—जाज़—का जो असर भारतीय फ़िल्मी गानों पर पड़ा है उनसे इस देश के गायन में एक नई परम्परा का जन्म हुआ है। वह अच्छा या बुरा है, शुद्ध संगीत के लिये साधक या घातक है, उसकी बात तो हम इस काल यहाँ नहीं कहते, पर इतना ज़रूर है कि फ़िल्मी गानों का प्रचलन भी इस देश में काफ़ी चल पड़ा है और अनेक लोगों को वह मार्ग या शास्त्रीय गानों से अधिक प्रिय और मधुर लगता है।

फ़िल्मी गानों की लोकप्रियता का एक प्रबल कारण है। वे आसानी से समझे जा सकते हैं। ध्वनि के साथ ही उनके अर्थ की गांठें भी अपने आप खुलती जाती हैं और उनका रोमैंटिक शब्द-चयन हमारे मर्म को गुदगुदा देता है। उनमें हम केवल ध्वनि की आसानी से समझ में न आ सकने

वाली धारा की आराधना नहीं करते बल्कि उसके द्वारा जो शब्द और अर्थ के माध्यम से संप्रेषण होता है उसे हम अपने हिये में बिठा लेते हैं।

यही अन्तर शुद्ध शास्त्रीय गायन और कविता में है। शास्त्रीय गायन ध्वनि-प्रधान है, कविता फ़िल्मी या देशी गायनों की भाँति शब्द-प्रधान है। इससे जहाँ शास्त्रीय संगीत ध्वनि विषयक साधना के अभ्यस्त कान ही समझ सकते हैं, उससे अनभ्यस्त कान भी शब्दों का अर्थ जानने मात्र से कविता, फ़िल्मी या देशी गानों का सुख ले सकते हैं। यहाँ हम पहले शास्त्रीय या मार्ग गायन की चर्चा करेंगे।

मार्ग या शास्त्रीय संगीत को ही 'क्लासिकल म्यूज़िक' या संगीत भी कहते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह ध्वनि-प्रधान होता है, शब्द-प्रधान नहीं। इसमें महत्व ध्वनि का होता है, उसके चढ़ाव-उतार का; शब्द और अर्थ का नहीं। इससे अनेक लोग स्वाभाविक ही ऊब भी जाते हैं। पर इस ऊबने का कारण उस संगीतक की कमज़ोरी नहीं, लोगों की जानकारी की कमी है। जिस कला का दसों साल रोज़-मर्रा घन्टों गायक अभ्यास करता है, स्वर साधता है, निश्चय वह अब संगीत का एक प्रकार का व्याकरण बन गया है और उसका व्याकरण या प्रतीक समझे बगैर उसका स्वाद

पा सकना निस्सन्देह कठिन है। पर इससे शास्त्रीय संगीत का मान नहीं घटता।

क्योंकि शास्त्रीय गायक आज के यूरोपीय चित्रकार की तरह ही पूछ सकता है कि हम ध्वनि द्वारा ध्वनि से भिन्न शब्द और उसके अर्थ की पेशवाई क्यों करें ? क्यों हम ध्वनि को ही न लहरायें, शुद्ध ध्वनि को ? आधुनिक चित्रकार भी तो यही पूछता है। ब्रुश द्वारा रंग और रेखा से चित्रफलक पर वह कुछ लिखता है, जो कभी-कभी आकृतियों का रूप भी ले लेता है; पर आकृतियाँ बनाना उसका इष्ट क्यों हो ? वह रंग और रेखा के माध्यम से इनसे भिन्न सुन्दर मुँह आदि को क्यों प्रदर्शित करे ? स्वयं रंग और रेखा ही उसकी अभिव्यंजना के इष्ट क्यों न हो जायें। यही बात शास्त्रीय संगीत के साथ भी है। वह ध्वनि से परे किसी वस्तु का—प्रेम, विरह आदि का, यद्यपि आनन्द, करुण राग उसमें है—परिचायक क्यों हो ? इसको समझने के लिये एक उदाहरण सहायक हो सकता है। सुबह-शाम हम पक्षियों का कलरव सुनते हैं। उससे हमारे कानों को सुख मिलता है। हम वह कलरव सराहने लगते हैं, कोयल की कूक को, पपीहे की टेर को, भौंरों के कूजन को हम अपने मधुर वसन्त और मदिर मार्मिक भावनाओं से बांधते हैं। उन्हें अपनी भीतर की आवाज़ की गूँज मानते हैं। पर कोई

सहसा रुककर पक्षियों के कलरव या जल-प्रवाह के कल-कल का अर्थ तो नहीं पूछने लगता ! ऐसा तो नहीं कि कोई कहने लग जाय कि इस कलरव या कलकल का हमें अर्थ समझा दो तो हम इसकी मिठास समझें। उनकी मिठास तो आवाज़ के कानों पर पड़ते ही हमारे दिमाग़ पर हावी हो जाती है। वैसे ही चितेरा और शास्त्रीय गायक भी कहते हैं—हमारे रंग और रेखा को आँखों से देखो और उनमें ही रस लो, उनसे परे कुछ दूसरा नहीं है, हमने दूसरा कुछ उनके ज़रिये लिखना ही नहीं चाहा है। हमारी ध्वनि को नाद से परे कुछ न समझो; स्वयं ध्वनि की समझ में असाधारण अनुभूति का सुख है, उसे लूटो। हमारी ध्वनि में ध्वनि से परे कुछ मत खोजो; उसके परे की कोई चीज़ उससे भिन्न हमने दी ही नहीं है, क्यों दें हम उसे ?

इस प्रकार के तर्क में अर्थ है। साधारणतः भी यह समझना चाहिये कि जिस कला की आराधना में इतनी निष्ठा, लगन और तत्परता से नित्य घंटों और सालों, जीवन-जीवन भर जब कलावन्त लगाता है, निस्सन्देह तब उसमें उसे रस मिलता है। वह हेय नहीं सधे दिमाग़ की अनुभूति की बात है। इस शास्त्रीय या मार्गीय संगीत-शैली की इस देश में आज हज़ारों साल से साधना होती आई है; कम से कम सामवेद आदि के वैदिक काल से ही। और सामवेद की

वैदिक पद्धति तो केवल आर्यों की शैली है। पर दक्षिण का द्राविड़ राग-निधान तो उससे परे का ही रहा होगा, शायद उससे भी पुराना। आज जो संगीत दक्षिण में प्रचलित है वह भी वैसे उत्तर भारतीय ही है, शास्त्रीय ही, यद्यपि उसमें दक्षिण का अपना व्यापक योग भी है; फिर भी प्राचीन—कम से कम दो हज़ार साल प्राचीन—तमिल साहित्य में भी दक्षिण के स्वतंत्र गायन के संकेत मिलते हैं। यहाँ उत्तर और दक्षिण के शास्त्रीय संगीत में जो साधारण भेद मानते हैं उसका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

साधारण तौर पर उत्तर भारत की संगीत-शैली को 'हिन्दुस्तानी'—क्लासिकल—और दक्षिण की शैली को 'कर्नाटक' या कर्नाटकी कहते हैं। कर्नाटक हमारे देश का एक जन-प्रदेश भी है जहाँ इस शैली की विशेष साधना हुई होगी और जहाँ से इसका विस्तार हुआ। कर्नाटकी का विस्तार प्रायः समूचे दक्षिण भारत पर है, पर हिन्दुस्तानी का न केवल उत्तर भारत पर बल्कि अनेक अंशों में दक्षिण पर भी है। इससे कुछ लोग हिन्दुस्तानी क्लासिकल संगीत को ही भारतीय क्लासिकल संगीत का पर्याय मानते और दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। वैसे भारत के मार्ग या शास्त्रीय संगीत की हिन्दुस्तानी या कर्नाटक यह दो

शैलियाँ, दो प्रधान भेद, हैं ।

मार्ग या क्लासिकल संगीत किसे कहते हैं ? इसका आरम्भ वैदिक काल में ही हो गया था । और अपने हज़ारों साल की प्रगति में यह संगीत-शैली अपनी अनोखी स्वर-साधना द्वारा एक अनोखी शैली बनाती चली गई । इसका विकास विशेष रीति से विशेष राग और भाव-सम्पदा से हुआ । इसकी अपनी रीति हुई, अपने स्वर, लय, ताल, राग हुए और यह कठिन ध्वनि-प्रयोग की साधना से मुखरित हुआ । इसके अपने नियम बने और अपने ही व्याकरण के आधार पर यह गाया और समझा जाने लगा । इसके नियमों आदि के कितने ही ग्रन्थ बन गये जिनके अनुकूल चलने से इसका नाम शास्त्रीय संगीत पड़ा । जिन शास्त्र-ग्रन्थों से इसकी काया सिरजी गई उनमें से कुछ, जो आज भी उपलब्ध हैं, के नाम हैं—नाट्य-शास्त्र, नारद-शिक्षा, संगीत-रत्नाकर राग-तरंगिणी, संगीत-दर्पण, संगीत-पारिजात, नगमात-ए-आसिफ़ी, संगीतराग-कल्पद्रुम, और संगीत-पद्धति ।

संगीत या गायन भी और कलाओं की ही तरह प्रयोग-प्रधान है । इससे यह न समझना चाहिये कि इन ग्रन्थों के आधार पर ही यह क्लासिकल या मार्ग-संगीत बन गया । प्रयोग पहले होता है शास्त्र या सिद्धान्त पीछे बनता है । प्रयुक्त कला के अध्ययन से ही उसके नियम-उपनियम बनते

हैं। इससे ग्रन्थों से उसका उदय नहीं उससे ग्रन्थों का उदय समझना चाहिये। क्लासिकल संगीत की साधना जो सदियों हुई है इससे परम्परा उसका प्राण बन गई है और उस सम्बन्ध में बड़े महत्त्व की है। उसने धीरे-धीरे विज्ञान का रूप धारण कर लिया है। उसका उदाहरण हम बगैर गाये केवल लिखकर नहीं दे सकते। यहाँ संकेत के लिये बस इतना जान लेना काफ़ी होगा कि ध्वनि को प्रधान मानकर रागों-सुरों आदि के विशेष विधान से यह शास्त्रीय संगीत गाया जाता है। यह साधारण जनता का संगीत नहीं है। कलावन्तों का है या उनका जो इसे इसी के नियमों के अनुसार इसे समझकर इसका रस ले सकते हैं।

संगीत-साधना में लीन मुसलमान और हिन्दू गायक

इस सम्बन्ध में बड़े महत्व की बात यह भी है, जो और कलाओं से कहीं अधिक संगीत से, विशेषकर इस क्लासिकल संगीत से सम्बन्ध रखती है, कि वह हिन्दू-मुसलमान दोनों का है। हिन्दू गायन या मुस्लिम गायन जैसा कोई संगीत यहाँ नहीं है; संगीत केवल भारतीय, शास्त्रीय, मार्ग है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने सदियों के तप और साधना से सँवारा है। दोनों ने चित्र कला में मुगल-कलम की तरह, पठान-शिल्प की तरह समान निष्ठा और लगन से सिरजा और विकसित किया है। देवता की पूजा के लिये जिस प्रकार लोग चित्त की शुद्धि और शरीर के तप से प्रयास करते हैं, उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों आचार्यों ने भारतीय संगीत की रक्षा और प्रचार किया है। इसी से दोनों के

ग्वालियर और बनारस के गायक

अनेक 'घराने' बन गये हैं जहाँ संगीत की आराधना और साधना होती रही है। इस प्रकार के कलावन्त साधक घराने उत्तर और दक्षिण दोनों में हैं। उत्तर में तो ग्वालियर, लखनऊ, बनारस आदि के काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

तानसेन

अब क्लासिकल या शास्त्रीय संगीत की काया समझिये। वह काया रागों और रागिनियों से बनी है। हर राग में स्वरों का समाहार है। सात शुद्ध और पाँच विकृत; कुल बारह स्वर हैं। इनकी आधार बाईस श्रुतियाँ हैं, जिनके अभाव में मन्द्र, मध्य और तार के तीन सप्तकों का बनना संभव न था। रागों की दो रीतियाँ हैं, आधुनिक और प्राचीन। आधुनिक राग दस प्रकार के माने जाते हैं—इमान, बिलावल, खमाज, भैरों, पूरवी, मरवा, काफ़ी, आसावरी, भैरवी और टोडी। इनसे ही सैकड़ों राग

निकाल लिये जाते हैं। प्रत्येक राग में चार प्रधान स्वर होते हैं—वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी। इनके अतिरिक्त छः स्वर और हैं जो राग को समृद्ध करते हैं—ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, सन्यास और विन्यास। पहले तीन ग्रामों—खड़ज (षड्ज), मध्यम और गान्धार—की गणना भी बाईस श्रुतियों में थी। इनकी अपनी-अपनी सात-सात 'मूर्च्छनायें' (चढ़ाव-उतार) भी थीं।

प्राचीन परम्परा के अनुसार राग छः हैं—भैरवी, श्री, मालकौस, दीपक, मेघ और हिन्दोल। इनमें से भैरव, श्री और मालकौस सुबह, शाम या तीसरे पहर गाये जाते हैं। बाकी तीन तीन ऋतुओं के राग हैं; जैसे दीपक गर्मियों में गाया जाता है, मेघ बरसात में और हिन्दोल सर्दियों में। अब दीपक नहीं चलता, सम्भवतः तानसेन के बाद ही वह समप्त हो गया था। इन रागों के अतिरिक्त ३६ रागिनियाँ भी हैं। और जब राग और रागिनियाँ हुईं तो एक पूरे परिवार की कल्पना भी जगी और रागों, राग-पत्नियों, राग-पुत्रों और राग-पुत्रवधुओं का एक समूचा कुटुम्ब ही उठ खड़ा हुआ। इन राग-रागिनियों के चित्र तक भारत में बने, जो रागमालाओं के नाम से राजस्थानी चित्र कला में प्रसिद्ध हैं। संगीत में अब ये प्राचीन राग-रागिनियाँ नहीं चलतीं। रागों के दो दल हैं—पूर्व और उत्तर। दोनों के बीच के सन्धि-

राजस्थानी रागमाला

प्रकाश राग कहलाते हैं। ये तीसरे सुबह या शाम को दिन और रात की सन्धि-समय गाये जाते हैं। विशेष अवसर और काल, ऋतु आदि के विशेष राग इसलिये होते हैं क्योंकि आदमी और प्रकृति के स्वभाव में काफ़ी समता होती है। ये राग-रागिनियाँ समय के अनुकूल होती हैं।

प्रायः सभी हिन्दुस्तानी क्लासिकल गीत ब्रजभाषा में ही रचे गये हैं। दो-तीन सदियों से लगातार उस पर ब्रज-भाषा का यह अधिकार बना हुआ है। आज भी वही प्रबल है। कुछ ब्रज-रागों का नीचे वर्णन किया जाता है—

ध्रुपद : पिछली तीन-चार सदियों से ध्रुपद लोकप्रिय रहा है। अकबर के समय का सबसे बड़ा ध्रुपदिया तानसेन था। तानसेन के बराबर गायक भारत में दूसरा नहीं हुआ। वृन्दावन के हरिदास स्वामी उसके गुरु थे। ध्रुपद गाने वाले दूसरे प्रसिद्ध आचार्य नायक गोपाल, नायक बैजू(बैजू बावरा), चिन्तामणि मिश्र आदि थे।

धीरे-धीरे ख़याल ने ध्रुपद की जगह ले ली। आजकल ध्रुपद गाने वाले नहीं के बराबर हैं। ध्रुपद के चार भाग होते हैं—स्थायी, अन्तरा, संचारी और अभोग। आजकल के ध्रुपद में संचारी और अभोग का प्रायः अभाव ही होता है। ध्रुपद की चार मानी हुई शैलियाँ, कन्धार, नोहार, दगुर और गोबाहरे हैं। पर ये अब बहुत ही कम गायी जाती हैं। ध्रुपद गाने के लिये भारी मर्दानी आवाज़ चाहिये। वीर, शृंगार और शान्त इसके रस होते हैं। अधिकतर ताल इसके चौताला, सुलफ़ोक, झम्पा, तीव्र, ब्रह्मा, रुद्र आदि हैं।

होरी और धमार : होरी और धमार ध्रुपद से ही मिलते-जुलते हैं। ताल इस प्रकार की रचनाओं का धमार होता है और ज़ोर दुगुन, चौगुन, गमक आदि पर होता है। अधिकतर इनका सम्बन्ध होली के त्यौहार से होता है, जब ये गाये जाते हैं। इन रचनाओं में कृष्ण और राधा का प्रेम

होली

वर्णित होता है। अधिकतर ये रचनाएँ भी अब संगीत से उठी जा रही हैं।

सद्रा : सद्रा इधर हाल का ही है। इसका सम्बन्ध झपताल से होता है। मुरादाबाद के नज़ीर ख़ाँ इसके प्रसिद्ध गाने वालों में से थे। पर शायद लखनऊ के दूल्हे ख़ाँ से बड़ा सद्रा गाने वाला नहीं हुआ।

ख़याल : हिन्दू-मुस्लिम का सम्मिलित योग ख़याल को मिला। दोनों संस्कृतियों की यह मिश्रित उपज है। मुसल-मानों के इस देश में आने से उनके संगीत का यहाँ के

संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी प्रभाव का एक परिणाम यह ख़याल है। यहाँ आने पर अनेक मुसलमान—पठान, तुर्क, मुग़ल—हिन्दी भाषा सीख कर उसी में कवितायें और गीत रचने लगे। अमीर खुसरो, जायसी, कुतबन, मन्झन, रहीम, शेख, आलम आदि अनेक हिन्दी के कवि हो गये हैं, जो मुसलमान थे। अमीर खुसरो तो भारतीय संगीत का महापंडित और अनेक बाजों का निर्माता हो गया है। उसके अतिरिक्त हुसेन शाह शरक़ी और मोहम्मद शाह रंगीले ने भी रागों की दुनिया में बड़ा जस कमाया। दोनों बादशाह थे, एक जौनपुर का था और दूसरा दिल्ली का।

अमीर खुसरो

प्राचीन ध्रुपद का उत्तराधिकारी यही ख़याल था। जैसे उर्दू शायरी फ़ौरी आनन्द देने वाली है वैसे ही ख़याल भी तत्काल सुख देने वाला है, ध्रुपद की तरह उसका आनन्द

परोक्ष नहीं होता। ख़याल का शाब्दिक अर्थ ही कल्पना है। सुल्तान हुसेन शाह शरक़ी के समय ख़याल को विशेष मर्यादा मिली। मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार के दो प्रसिद्ध गायकों—अदारंग और सदारंग—ने बहुत से ख़याल रचे जो आज भी गाये जाते हैं। ख़यालियों में प्रसिद्ध हद्दू ख़ाँ, हस्सू ख़ाँ, नत्थू ख़ाँ और पीरबख्श हो गये हैं। इनमें अन्तिम तो उस फ़न का भारी उस्ताद था।

ख़याल की एक बड़ी लोकप्रिय शैली कव्वाल है। कव्वाल अमीर खुसरो का बनाया बताया जाता है। खूब चल भी निकला यह। ख़याल की मन्द और तीव्र दो शैलियाँ हैं। इसके ताल अधिकतर धीमा, एकताल, झूमरा, अया चौताल आदि हैं।

टप्पा : टप्पा ध्रुपद और ख़याल दोनों से भिन्न है। वैसे यह ख़याल से घटिया माना जाता है, यद्यपि इसमें भी ख़याल की ही तरह स्थायी और अन्तरा का योग होता है। ताल प्रायः वही होते हैं पर इसमें तानों का इतना सुन्दर संयोग होता है कि मन बेबस हो जाता है। टप्पा के गाने अधिकतर काफ़ी, झिंझोटी, पीलू, बरवा, मन्द, भैरवी, खमाज आदि रागों में गये जाते हैं। शृंगार उसका रस है।

टप्पा संगीत में वह असाधारण उदाहरण है जो लोक-शैली से दरबारी हो गया है। पहले इसे पंजाब के ऊँटवान

गाया करते थे। इसी कारण इसके गीत भी अधिकतर पंजाबी हैं। इसकी लोक-परम्परा ने इसमें ग़जब की ताज़गी भर दी है। इसे लोक-शैली से दरबारी बनाने का श्रेय शोरी मियाँ को है। अब इसका चलन भी उठता जा रहा है और इसके गाने वाले इक्के-दुक्के ही मिलते हैं।

गाने की एक महत्व की शैली तराना है। तराना शब्दों का महत्व बिलकुल नहीं है। स्वर की सम्हाल के लिये बस न, त, रे, दानी, ओदानी आदि शब्दों का ही उसमें इस्तेमाल होता है। इसके गाने वाले का ताल और उसकी पेचीदगियों पर पूरा अधिकार होना चाहिये। इसमें पखावज की भाषा और फ़ारसी के शेरों का प्रयोग भी होने लगा है। प्रायः सभी ख़यालिये इसे गा लेते हैं। आजकल तीव्र तराने बहुत पसन्द किये जाते हैं। किसी भी ताल में वे बन्ध जाते हैं, इससे इस प्रकार की रचनाओं में तीव्र का प्रयोग कुछ ऐसा अनिवार्य भी नहीं है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा बड़ी प्राचीन तो है ही, ध्वनि की वैज्ञानिक साधना भी उसमें असाधारण है। इसी कारण इस प्रकार का संगीत देश में इतना लोकप्रिय नहीं हो सका। लोकप्रिय गीतों की शैलियाँ दूसरी हैं। नीचे हम उन्हीं का ज़िक्र करेंगे।

३. देशी संगीत

देशी संगीत नगरों और गाँवों में बहुत लोकप्रिय हो गया है। देशी गाने सदा से शास्त्रीय के साथ-साथ ही गाये जाते रहे हैं। इनके भी दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो वे जिन्हें सधे राग-तालों के ही आधार पर गाया जाता है और दूसरे वे जिन्हें आज हम लोकगीत कहने लगे हैं। इनमें से पहले शास्त्रीय और लोकगीतों के प्रायः बीच के हैं। इनमें प्रधान ठुमरी, ग़ज़ल, दादरा, कव्वाली, कीर्तन और भजन हैं।

ठुमरी अधिकतर तवायफ़ें गाती हैं। इसमें बड़ा रस होता है और इसकी रचना बड़ी आकर्षक होती है। देशी गानों में ध्वनि की प्रधानता इतनी नहीं होती जितनी शब्द की होती है। मतलब यह कि इनके शब्दों का अर्थ होने लगता है और ध्वनि के साथ-साथ गीत का भाव भी मर्म को छूने लगता है। रागों के विचार से ठुमरी में ख़याल से काफ़ी शिथिलता और आसानी है पर उसका सीखना भी कुछ ऐसा आसान नहीं। अनेक अच्छे ख़यालिये इसमें भूल कर जाते हैं।

कठिन तानों और रागों के पेंच ठुमरी में सरल कर दिये जाते हैं। टैक्नीक से अधिक महत्व इसमें कल्पना को दिया जाता है। इसके अनेक उस्ताद शास्त्रीय ढंग से कभी सिखाये नहीं गये थे। इसमें आवश्यकता मधुर लचीली आवाज़ की होती है। पर ठुमरी का प्राण 'बोल' है, जिसकी सम्हाल सबसे नहीं हो पाती।

ठुमरी का जन्म और विकास उत्तर प्रदेश में हुआ। लखनऊ और बनारस में यह फूली-फली। वहीं से इसका दूर-दूर तक विकास हुआ। लखनऊ-शैली के निर्माता सादिक़ अली ख़ाँ थे और उसके सबसे बड़े गायक मोजुद्दीन ख़ाँ। मोजुद्दीन ख़ाँ के गुरु ग्वालियर राजघराने के भैया-साहब गनपतराव थे। बनारसी ठुमरी पर लोकभाषा का काफ़ी असर पड़ा है। कजरी, चैता आदि लोक-शैलियों का भी उस पर ख़ासा प्रभाव पड़ा है। एक पंजाबी किस्म की ठुमरी भी कुछ ज़माने में उत्तर प्रदेश में लोकप्रिय हुई है। इस पर भी पहाड़ी, माहिया आदि लोकगीतों का ख़ासा असर है। ठुमरी बड़ी लोकप्रिय है, इससे उसका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। ख़याल चाहे मर जाय पर ठुमरी नहीं मरने की।

ग़ज़ल : ग़ज़ल फ़ारसी की देन है। साहित्यिक शैली के रूप में यह बेजोड़ है। उन्नीसवीं सदी की उर्दू में इसका

बड़ा बोलबाला रहा और उस सदी के उत्तरार्ध में गायकों ने भी उसे विशेष चाव से अपना लिया। उसे अपनाने में क़व्वालों और तवायफ़ों ने विशेष तत्परता दिखाई। अब इसे सभी प्रकार के गायक---फ़िल्म-स्टार से क्लासिकल उस्ताद तक---गाते हैं।

ग़ज़ल भैरवी, पीलू, भीमपलासी, देस, खमाज आदि देशी और लोकप्रिय रागों में ही गायी जा सकती है, यद्यपि वह बागेश्री (बागेश्वरी), मालकौस, शंकर और दरबारी रागों में अक्सर गाई गई है। ग़ज़ल में तानों के लिये जगह नहीं। तवायफ़ों ने ग़ज़ल गाने में बड़ी महारत हासिल की है। उनके बराबर ग़ज़ल गाने वाले इस देश में नहीं हुए। मल्का, ज़ोहरा और गौहर की गायी ग़ज़लों की गूँज आज भी हमारे कानों में है। क़व्वालों ने भी ग़ज़ल की शैली को साधा है पर तवायफ़ों के कंठ की मिठास उनमें कहाँ ?

ग़ज़ल का विस्तार रेडियो और सिनेमा से खूब हुआ है। इन साधनों से वह इतना लोकप्रिय हो गया है कि फ़िल्म-स्टूडियो और साधारण मजलिसों-महफ़िलों से लेकर गुसलख़ानों तक में वह गाया जाता है। जवान लड़के-लड़कियाँ सदा इसे गुनगुनाते रहते हैं। अक्सर रात के सूने में फ़िल्मी ग़ज़ल सूनेपन को चीरती सुन पड़ती है। रेडियो

पर लगातार ग़ज़ल के रेकार्डों की फ़रमाइशें आती रहती हैं। फ़िल्म-स्टूडियो ने उसमें अनेक परिवर्तन भी किये हैं। अक्सर अमरीकी 'जाज़' की ध्वनि उसके कलेवर से लिपटी होती है। ग़ज़ल का भविष्य भी उज्ज्वल है।

दादरा : दादरा ठुमरी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। बनावट में भी दोनों में काफ़ी समानता है। उनकी मर्यादा भी प्रायः समान है, वैसे ठुमरी का स्थान दादरा से कुछ ऊँचा है। दोनों के तालों में अन्तर है। दादरा ठुमरी से तीव्रतर गाया जाता है। दादरा के ताल ठुमरी के तालों से पुराने हैं। उनकी बनावट, विषय, भाषा, भाव आदि एक-से होते हैं। दादरा का जन्म और विकास भी बनारस और लखनऊ के आसपास ही हुआ। बनारस के दादरे की शैली अधिक लोकप्रिय है। मोजुद्दीन ख़ाँ ठुमरी के साथ-साथ दादरा के भी बड़े गवैये थे। इस शैली की माहिर भी तवायफें ही हैं। गाँव की औरतों की गाई शैली से लेकर शहराती नफ़ीस दादरा की शैली तक वे असाधारण मिठास और खूबी के साथ गाती हैं। दादरा मन्द और तीव्र दोनों लयों में गाया जा सकता है। पर इसका गाना तनिक कठिन है। पर क्लासिकल संगीत के आचार्य जैसे और देशी शैलियों पर व्यंग करते हैं, इस पर नहीं कर पाते कारण

कि इसकी जड़ें गाँवों के समाज में हैं और किसी प्रकार उखाड़ी नहीं जा सकतीं ।

क़व्वाली : मूल रूप में कव्वाली मज़हबी चीज़ है । इसका विषय अधिकतर पहले धार्मिक ही रहा है । ग़ज़ल की ही तरह इसके भी विशेष गायक मुसलमान ही रहे हैं,

क़व्वाली के गायक

इसके रचयिता तो वे रहे ही हैं । मुसलमानों की मज़हबी चीज़ होते हुए भी क़व्वाली सारे उत्तर-पच्छिम प्रदेश में लोकप्रिय हो गई है और उसकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती

ही जा रही है । अजमेर शरीफ़ में हर साल देश के बड़े-बड़े क़व्वाल इकट्ठे होते हैं। उनकी क़व्वाली का असर आई हुई मुसलमान जनता पर देखते ही बनता है। क़व्वाली अधिकतर मज़ारों का गीत है। हारमोनियम और ढोलक की मदद से क़व्वाली गाई जाती है ।

कीर्तन और भजन : जो स्थान क़व्वाली का मुसलमानों में है, वही कीर्तन और भजन का हिन्दुओं में है । वस्तुतः उससे भी बढ़कर क्योंकि अनेक हिन्दुओं के लिये तो भजन ही गीता और वेद है । कीर्तन और भजन बनते भी बड़े प्राचीन काल से चले आए हैं। इनका विस्तार सारे भारत में है। भाषा बदलती जाती है पर भजन के भाव और उद्देश्य

सूर मीरा तुलसी

नहीं बदलते। कीर्तन-भजन का सम्बन्ध भक्ति-सम्प्रदाय

ग्रौर ग्रान्दोलन से है। इस सम्बन्ध में उत्तर-दक्षिण भारत में कोई भेद नहीं है। ग्रलवार, रामानुज, वल्लभ, कबीर, चैतन्य, मीरा, सूरदास, तुलसीदास सभी के पद ग्रौर भजन भक्ति-ग्रान्दोलन से बंधे हैं ग्रौर बड़े मनोयोग से गाये जाते हैं। कबीर, मीरा, सूर, तुलसी ग्रौर ग्रष्टछाप के कवियों के पद बड़े ही लोकप्रिय हैं। रेडियो ग्रौर सिनेमा ने भी भजनों का खासा प्रचार किया है।

४. लोकगीत

लोकगीत : लोकगीत अपनी लोच, ताजगी और लोक-प्रियता में मार्ग और देशी दोनों प्रकार के संगीत से भिन्न हैं। लोकगीत सीधे जनता के संगीत हैं। घर, गाँव और नगर की जनता के गीत हैं ये। इनके लिये साधना की ज़रूरत नहीं होती। त्यौहारों और विशेष अवसरों पर ये गाये जाते हैं। सदा से ये गाये जाते रहे हैं और इनके रचने वाले भी अधिकतर अनपढ़, गाँव के लोग ही हैं। स्त्रियों ने भी इनकी रचना में विशेष भाग लिया है। ये गीत बाजों की मदद के बिना ही या साधारण ढोलक, झाँझ, करताल, बाँसुरी आदि की मदद से गाये जाते हैं।

मार्ग या देशी के सामने इनको हेय समझा जाता था। अभी हाल तक इनकी बड़ी उपेक्षा की जाती थी पर इधर साधारण जनता की ओर राजनीतिक कारण से जो लोगों की नज़र फिरी है तो साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूलभूत परिवर्तन हुआ है। अनेक लोगों ने विविध बोलियों के लोक-साहित्य और लोकगीतों के संग्रह पर कमर बाँधी है और इस प्रकार के अनेक संग्रह अब तक प्रकाशित भी

हो गये हैं। प्रान्तों की विविध सरकारों ने भी इस लोक-साहित्य के पुनरुद्धार में हाथ बँटाया है और सभी राज्यों में उस सम्बन्ध का एक विभाग चलू कर दिया गया है या सार्वजनिक अधिवेशन, पुरस्कार आदि द्वारा उसका प्रोत्साहन, प्रचार और वृद्धि शुरू कर दी है।

लोकगीतों के कई प्रकार हैं। इनका एक प्रकार तो बड़ा ही ओजस्वी और सजीव है। यह इस देश के आदि-वासियों का संगीत है। मध्य प्रदेश, दकन, छोटा नागपुर

आदिवासियों का संगीत और नाच

में गोंड-खांड, ओरांव-मुंड, भील-सन्ताल आदि फैले हुए हैं, जिनमें आज भी जीवन नियमों की जकड़ में बँध न सका

श्रौर निर्द्वन्द्व लहराता है। इनके गीत श्रौर नाच अधिकतर साथ-साथ श्रौर बड़े-बड़े दलों में गाये श्रौर नाचे जाते हैं। बीस-बीस, तीस-तीस आदमियों श्रौर श्रौरतों के दल एक साथ या एक दूसरे के जवाब में गाते हैं, दिशायें गूँज उठती हैं।

पहाड़ियों के अपने-अपने गीत हैं। उनके अपने-अपने भिन्न रूप होते हुए भी अशास्त्रीय होने के कारण उनमें अपनी एक समान भूमि है। गढ़वाल, कनौर, कांगड़ा आदि के अपने-अपने गीत श्रौर उन्हें गाने की अपनी-अपनी विधियाँ हैं। उनका अलग नाम ही 'पहाड़ी' पड़ गया है।

वास्तविक लोकगीत देश के गाँवों श्रौर देहात में हैं। इनका सम्बन्ध देहात की जनता—किसानों, अहीरों, धोबियों आदि से है। बड़ी जान होती है इनमें। चैता, कजरी, बारहमासा, सावन आदि मिर्ज़ापुर, बनारस, श्रौर दूसरे उत्तर प्रदेश के पूरबी श्रौर बिहार के पच्छिमी जिलों में गाये जाते हैं। बाउल श्रौर भतियाली बंगाल के लोकगीत हैं। पंजाब में माहिया आदि इसी प्रकार के हैं। हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल सम्बन्धी गीत पंजाबी में श्रौर ढोला-मारू आदि के गीत राजस्थानी में बड़े चाव से गाये जाते हैं।

इन गीतों के विषय साधारणतः राग, द्वेष, प्रणय, विरह, संयोग, आनन्द, विराग सभी हैं; अनन्त विषय जो नित्य के जीवन में प्रकाश पाते हैं। वास्तव में इन देहाती

पंजाब का जन-गायक 'हीर' गाते हुए

गीतों के रचयिता कोरी कल्पना को इतना मान न देकर अपने गीतों के विषय रोज़मर्रा के बहते जीवन से लेते हैं जिससे वे सीधे मर्म को छू लेते हैं। उनके राग भी साधा-

रणतः पीलू, सारंग, दुर्गा, सावन, सोरठ आदि हैं। कहरवा, बिरहा, धोबिया, आदि देहात में बहुत गाये जाते हैं और बड़ी भीड़ आकर्षित करते हैं।

इनकी भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि ये सभी लोकगीत गाँवों और इलाकों की बोलियों में गाये जाते हैं। क्लासिकल या शास्त्रीय संगीत की भाषा अधिकतर वह नहीं जो गाने और सुनने वालों की है, कृत्रिम है और ताल-सुर की जकड़ में बँध कर तो वह और भी कृत्रिम और अबूझ हो जाती है, पर लोकगीतों की भाषा नित्य की बोली होने के कारण बड़ी आह्लादकर और आनन्ददायक होती है। राग तो इन गीतों के आकर्षक होते ही हैं, इनकी समझी जा सकने वाली भाषा भी इनकी सफलता का कारण है।

भोजपुरी में करीब तीस-चालीस बरसों से 'विदेशिया' का प्रचार हुआ है। गाने वालों के अनेक गरोह इन्हें गाते हुए देहात में फिरते हैं। उधर के ज़िलों में विशेषकर बिहार में विदेशिया से बढ़कर दूसरे गाने लोकप्रिय नहीं हैं। इन गीतों में अधिकतर रसिक प्रियों और प्रियाओं की बात रहती है, परदेशी प्रेमी की; और इनसे करुणा और विरह का जो रस बरसता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जंगल की जातियों के अतिरिक्त सभ्य गाँवों के अहीरों

आदि के भी दल-गीत होते हैं जो अधिकतर बिरहा आदि में गाये जाते हैं। अहीरों के मर्द एक ओर और स्त्रियां दूसरी ओर एक दूसरे के जवाब के रूप में दल बांधकर गाते हैं और दिशायें गुंजा देते हैं। पर इधर कुछ काल से इस प्रकार के दलीय गायन का अहीरों में ह्रास हुआ है। एक अत्यन्त मारक नगर-गांव के वर्णों की देखा-देखी अहीरों में जो स्त्रियों को परदे में रखने आदि का आन्दोलन चला तो इस प्रकार के सजीव गीत-समारोहों को खा बैठा।

एक दूसरे प्रकार के बड़े लोकप्रिय गाने आल्हा के हैं। अधिकतर ये बुन्देलखण्डी में गाये जाते हैं। आरम्भ तो इसका चन्देल राजाओं के राज कवि जगनिक से माना जाता है जिसने आल्हा-ऊदल की वीरता का अपने महाकाव्य में बखान किया, पर निश्चय उसके छन्द को लेकर जनबोली में उसके विषय को दूसरे देहाती कवियों ने भी समय-समय पर अपने गीतों में उतारा और ये गीत हमारे गांवों में आज भी बहुत प्रेम से गाये जाते हैं। इनको गाने वाले गांव-गांव ढोलक लिये गाते फिरते हैं। इसी की सीमा पर उन गीतों का भी स्थान है जिन्हें नट रस्सियों पर खेल करते हुए गाते हैं। अधिकतर ये गद्य-पद्यात्मक हैं और इनके अपने बोल हैं।

अनन्त संख्या अपने देश में स्त्रियों के गीतों की है। हैं

तो ये गीत भी लोकगीत ही पर अधिकतर इन्हें औरतें ही गाती हैं। इन्हें सिरजती भी अधिकतर वही हैं। वैसे मर्द रचने वालों या गाने वालों की भी कमी नहीं है पर इन गीतों का सम्बन्ध विशेषतः स्त्रियों से है। इस दृष्टि से भारत इस दिशा में सभी देशों से भिन्न है क्योंकि संसार के अन्य देशों में स्त्रियों के अपने गीत मर्दों या जनगीतों से अलग और भिन्न नहीं हैं, मिले-जुले ही हैं।

त्यौहारों पर नदियों में नहाते समय के, नहाने जाते हुए राह के, विवाह के, मटकोड़, ज्यौनार के, सम्बन्धियों के लिये प्रेम-युक्त गाली के, जन्म आदि सभी अवसरों के अलग-अलग गीत हैं जो स्त्रियाँ गाती हैं। इन अवसरों पर कुछ आज से ही नहीं बड़े प्राचीनकाल से वे गाती रही हैं। महाकवि कालिदास आदि ने भी अपने ग्रंथों में उनके गीतों का हवाला दिया है। सोहर, बानी, सेहरा आदि उनके अनन्त गानों में से कुछ हैं। वैसे तो बारहमासे पुरुषों के साथ नारियाँ भी गाती हैं।

एक विशेष बात यह है कि नारियों के गाने साधारणतः अकेले नहीं गाये जाते, दल बाँधकर गाये जाते हैं। अनेक कंठ एक साथ फूटते हैं यद्यपि अधिकतर उनमें मेल नहीं होता, फिर भी त्यौहारों और शुभ अवसरों पर वे बहुत ही भले लगते हैं। गाँवों और नगरों में गानेवालियाँ भी होती

हैं जो विवाह, जन्म आदि के अवसरों पर गाने के लिये बुला ली जाती हैं। सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ उल्लसित होकर दल बाँधकर गाती हैं। पर होली, बरसात की कजरी आदि तो उनकी अपनी चीज है, जो सुनते ही बनती है। पूरब की बोलियों में अधिकतर मैथिल-कोकिल विद्यापति के गीत गाये जाते हैं। पर सारे देश के—कश्मीर से कुमारी-केरल तक और काठियावाड़-गुजरात-राजस्थान से उड़ीसा-आन्ध्र तक—अपने-अपने विद्यापति हैं।

स्त्रियाँ ढोलक की मदद से गाती हैं। अधिकतर उनके

गुजरात का गरबा नृत्य

गाने के साथ नाच का भी पुट होता है। गुजरात का एक प्रकार का दलीय गायन 'गरबा' है जिससे विशेष विधि से घेरे में घूम-घूमकर औरतें गाती हैं। साथ ही लकड़ियाँ भी बजाती जाती हैं जो बाजे का काम करती हैं। इसमें नाच-गान साथ चलते हैं। वस्तुतः यह नाच ही है। सभी प्रान्तों में यह लोकप्रिय हो चला है। इसी प्रकार होली के अवसर पर ब्रज में रसिया चलता है जिसे दल के दल लोग गाते हैं, स्त्रियाँ विशेष तौर पर।

गाँव के गीतों के वास्तव में अनन्त प्रकार हैं। जीवन जहाँ इठला-इठलाकर लहराता है वहाँ भला आनन्द के स्रोतों की कमी हो सकती है? उद्दाम जीवन के ही वहाँ के अनन्त संख्यक गाने प्रतीक हैं।

गीतों की कुछ और किस्में भी हैं। इनमें अधिकतर वे हैं जिन्हें गीत कहते भी हैं। इस प्रकार के गीत अत्यन्त आधुनिक संगीत के अंग हैं जिनका प्रसार फ़िल्मों ने किया है। एक तो देशी और लोकगीतों को भी अपने रस में ढालकर उन्होंने उनका प्रसार किया हो है पर जिन गीतों का हम यहाँ जिक्र कर रहे हैं उनका तो जन्म ही फ़िल्म-स्टूडियों में हुआ है। इनको फिल्म-स्टारों, और कुछ अंश में रेडियो ने भी गाया और बढ़ाया है। यह देशी-विदेशी और अशास्त्रीय-गँवारू गानों के दोगले हैं।

भारतीय ऑर्केस्ट्रा के योग से ये गीत गाये जाते हैं। इन्हें एक या अनेक मिलकर गाते हैं अधिकतर एक लड़का और लड़की, विशेषतः प्रेमी और प्रेमिका, अलग-अलग एक दूसरे के जवाब के रूप में या एक साथ मिलकर भी। इस प्रकार के गीत वस्तुतः 'मे वेस्ट' और नव-भारत के मिले-जुले प्रयास हैं। हालीवुड और बम्बई की फ़िल्मी दुनिया इनमें आ मिली है। मधुर, तेज़ या ढीले, कृत्रिम स्वर में ये गीत गाये जाते हैं। और यद्यपि ये शास्त्र की दृष्टि से नगण्य हैं, अब काफ़ी लोकप्रिय हो गये हैं और फ़िल्मों के जगत् पर आज यह इस प्रकार हावी है कि अच्छे संगीत का वहाँ गला घुटता जा रहा है।

इनको जाने हुए लोकप्रिय हिन्दी-उर्दू के—विशेषतः उर्दू के—कवि लिखते हैं। अधिकतर वे फ़िल्म-स्टूडियो के नौकर हैं और फ़िल्म के मालिक 'आर्डर' करके विषय और परिमाण बताकर उनसे ये गीत लिखा लेते हैं। इनके चलते टकसाली तर्ज़ नितान्त लोकप्रिय हो गये हैं और कुछ काल तक अभी इनसे नजात पाने की आशा नहीं दीखती।

इधर रेडियो ने जब अति शृंगारिक और घिनौने फ़िल्मी रेकार्ड बजाने कुछ दिनों बन्द कर दिये थे तब इन गीतों के लिये काफ़ी हो-हल्ला मचा था। तब देखा गया कि इनकी माँग इस मात्रा में और इतनी प्रबल है कि इनको

सर्वथा तजा नहीं जा सकता। लोग अपने देश के स्टेशनों का प्रोग्राम बन्द कर सीलोन रेडियो के प्रोग्राम सुनने लगे थे जो निरन्तर इन फ़िल्मी गीतों के रेकार्ड बजाता रहा था। भारतीय रेडियो ने भी तब हल्के गानों की आवश्यकता पक्के गानों के ऊपर समझी थी और जाने-माने कवियों से गीत लिखवाकर वह उनके रेकार्ड बजाने या कविताओं के गीत-रूप प्रसारित करने लगा था। पर वह प्रयोग सफल न हो सका और फ़िल्मी-रेकार्डों का फिर से आश्रय लेना पड़ा। हाँ, उनके चुनाव में निश्चय अब रुचि को महत्व दिया गया है।

५. बाजे

वादन : वादन संगीत के तीन अंगों में से एक है। संगीत के समूचे अंग गीत, वाद्य और नृत्य हैं। वाद्य या बाजे का सम्बन्ध गाने और नाचने दोनों से है। दोनों में ही उसकी आवश्यकता होती है। इससे हम यहाँ गीत और नृत्य दोनों के बीच ही वाद्य या वादन की चर्चा करेंगे।

पुराने भारतीय बाजे

बाजा भी गाने और नाचने की ही तरह मनुष्य की

अत्यन्त प्राचीन कला-निधि है । अत्यन्त प्राचीनकाल में ही कम से कम बाँसुरी और नगाड़े का निर्माण हो गया था। पंडितों का विचार है कि स्वच्छन्द बहती हुई हवा जंगल में जब बाँसों की सुराख़ से होकर गुज़रती थी तब एक मधुर कोमल ध्वनि से वन-प्रान्तर मुखरित हो उठता था । स्वच्छन्द फिरता बनैला मानव उस तरंग से देर तक विरहित न रह सका और उसने बाँस में अपने कोमल स्वर से झट प्राण फूँक दिये और वंशी बज उठी । इसी प्रकार नगाड़ा भी साधारण मिट्टी या काठ पर चढ़े चमड़े से बना और प्राचीन से प्राचीन बाजों में गिना जाता है । आदिम निवासियों में आज भी वह विशेष रूप से चलता है । उनके आनन्द और युद्ध का वह प्रबल प्रतीक है । आज उसका संगीत में अनेकधा उपयोग होने लगा है ।

बाजे आज देश में इतने बजाये जा रहे हैं कि इनकी अब कोई गिनती न रही । तारों-बे-तारों के बाजे, चमड़े से ढके हाथ या लकड़ी से पीटकर बजाये जाने वाले बाजे, मुँह से फूँककर बजाये जाने वाले और लकड़ी-लोहे आदि के डण्डों को सजाकर लकड़ी से ठोंककर या पात्रों में पानी भरकर बजाये जाने वाले अनेक प्रकार के बाजे हैं । ये बाजे अकेले भी बजाये जाते हैं और इकट्ठे कर के आर्केस्ट्रा के रूप में भी । इनकी चर्चा हम नीचे इनके अलग-अलग दलों में करेंगे ।

भारतीय बाजे साधारणः चार भागों में बाँटे जा सकते हैं। तात, बेतात, घन और सेखर किस्म के। तात तारों वाले बाजे हैं। पीतल या लोहे के तार या रेशमी-सूती डोरे से ये बान्ध कर बनते हैं। ये लकड़ी, हाथी-दाँत या मिजराब के सहारे बजाये जाते हैं। तात के दल में गिने जाने वाले बाजे वीणा, बीन, सरोद, तम्बूरा आदि हैं। वीणा की चर्चा संस्कृत साहित्य में बार-बार हुई है। इसका ही कोई न कोई किस्म तारों वाले वे बाजे हैं जिनको प्रायः सभी प्राचीन सभ्य जातियों ने बजाया है और जिसका उन्होंने अपनी-अपनी रीति से निर्माण किया है। यूनानियों में भी एक प्रकार की वीणा चला करती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में वीणा के तन्त्री आदि नाम भी मिलते हैं।
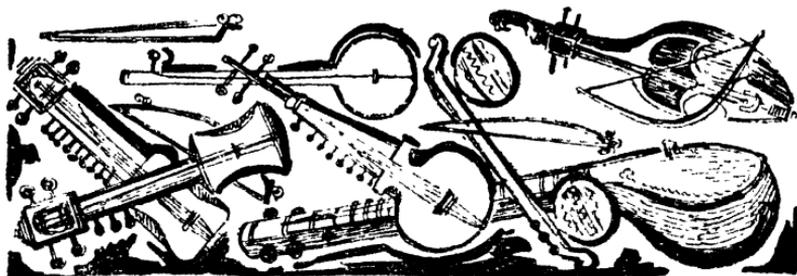
तार वाले बाजे

बेतात किस्म के बाजे भी तार वाले ही होते हैं, फ़र्क उनमें बस इतना होता है कि उनमें तार के नीचे चमड़ा लगा होता है

श्रौर उन्हें हाथ की उँगलियों से न बजाकर धनुष से बजाते हैं। सारंगी, तौस, दिलरुबा वगैरह इसी वर्ग के हैं। इनका प्रचार भी देश में खूब है।

घन गंभीर श्रावाज के भारी बाजे हैं, ढोल के-से। नगाड़ा, पखावज, ढोल, मृदंग, तबला, सब इसी घन किस्म के हैं।
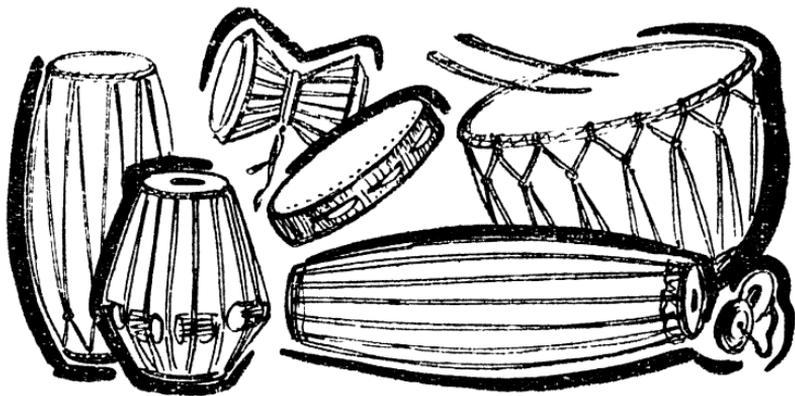
घन गंभीर श्रावाज़ वाले बाजे

सेखर बाजों के उस समूह को कहते हैं जो फूँककर बजाये जाते हैं। बाँसुरी, मुरली, श्रलगोज़ा, नफ़ीरी, शहनाई श्रादि इस वर्ग में श्राते हैं।

उँगलियों से बजाये जाने वाले बाजों में एक विशिष्ट बाजा रुद्रबीन है। रुद्रबीन बड़ा प्राचीन बाजा है श्रौर उसका बजाना भी कुछ श्रासाम नहीं है। होता भी वह काफ़ी कीमती है। उसमें सोना, चाँदी, हाथीदाँत श्रादि जड़े होते

हैं। सरस्वती वीरणा ही अधिकतर देखने में आती है। इस प्रकार की वीरणा अक्सर सरस्वती की मूरतों में बनी होती है। दक्षिरण भारत में इसका विशेष चलन है और अनेक लोग इसे वहाँ बजाते हैं। उत्तर भारत में वीरणा बजाने वालों की संख्या नित्य प्रति घटती जा रही है।

नारद की वीरणा चार तारों की होती है। उसका दूसरा नाम तम्बूरा है। सितार तीन तारों का बाजा होता है। कहते हैं, उसे अमीर खुसरो ने बनाया था। एक-तारा एक तार का होता है, छोटा; जिसे बजाकर साधु-भिखारी भीख माँगा करते हैं। इसी वर्ग का सितार की तरह बड़ा एकतारा तानपूरा होता है।

सारंगी, दिलरुबा, तौस और खमाच भी तार वाले बाजे हैं पर वे हाथ से न बजाये जाकर धनुष से बजाये जाते हैं। सारंगी हाथ-डेढ़ हाथ की होती है। उसका निचला भाग चमड़े से मढ़ा रहता है। उसमें तारों के दो दल होते हैं; एक ऊपर एक नीचे। ऊपर के तार धनुष से बजाये जाते हैं नीचे के अंगुलियों से। इसे शायद एक मुसलमान हकीम ने बनाया था। खमाच लकड़ी का बना होता है, ऊपर सितार-सा, नीचे सारंगी-सा। इसके भी निचले भाग पर चमड़ा चढ़ा होता है। तौस मोर की शक्ल का बाजा होता है, बड़ा सुन्दर। दिलरुबा का आकार-प्रकार अधिकतर तौस

का-सा ही होता है पर उसमें मोर की शक्ल नहीं होती। साजिन्दा भी इसी दल का बाजा है जिसे सिक्खों के गुरु रामदास ने बनाया था। यह दो तारों का बाजा है। नीचे खोखला होता है ऊपर लकड़ी के टुकड़ों पर तार कसे होते हैं।

सरोद श्रौर रुबाब भी इसी तारों के दल के बाजे हैं। सरोद का प्राचीन नाम शायद स्वरोदय है। रुबाब में ग्यारह तार होते हैं; ऊपर सात, नीचे चार। इसे तिकोनी लकड़ी से बजाते हैं। कहते हैं कि इसे सिकन्दर जुलकर नैन ने बनाया था। सरोद श्रौर रुबाब का बजाना ज़रा कठिन है। सुरबीन श्रौर सितार प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं। फ़र्क बस इतना होता है कि सुरबीन पर सामने लोहे की चद्दर चढ़ी होती है श्रौर तार उसके रुबाब के-से होते हैं। मुगल शहज़ादा काले साहब ने उसे बनाया था। रुबाब से ही मिलता-जुलता एक श्रौर बाजा होता है जिसे सुर सिंगार कहते हैं। तरब भी तार का ही बाजा है जिसे ज़मीन पर रखकर श्राधे चाँद की-सी लकड़ी से बजाते हैं।

मुँह से फूँक कर बजाये जाने वाले बाजों में से बंशी या बाँसुरी का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृष्ण की बाँसुरी श्रौर मुरली तो साहित्य श्रौर लोक दोनों में प्रसिद्ध हैं। श्रलगोजा ऊपर कुछ पतला नीचे कुछ चौड़ा होता है
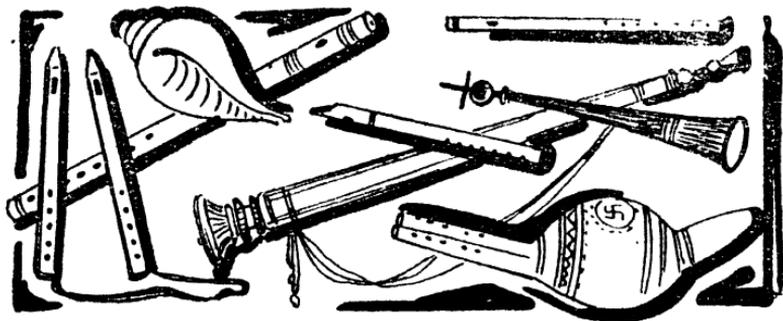
फूंककर बजाए जाने वाले बाजे

श्रोर काली लकड़ी का बनता है । उसमें बराबर दूरी पर सात सूराख़ होते हैं । कहते हैं कि उसे उम्मा ऐ यार ने बनाया था । अलगोजे की शक्ल बन्दूक की नली की-सी होती है । शंख भी मुँह से फूँककर ही बजाया जाता है श्रौर बड़ा प्राचीन बाजा है । शंख-ध्वनि विजय की सूचक है। शंख से ही युद्ध आरंभ श्रौर समाप्त किया जाता था। पूजा में भी उसे बजाया जाता था जैसे आज भी बजाया जाता है । तुरही समूची पीतल की बनती है । वह भी पहले युद्ध में बजती थी । पर उसका उपयोग भी शंख की तरह शान्ति के अवसरों पर भी सदा से होता आया है । पहले उसे तुर्य कहते थे । सिंहा भी तुरही की तरह का एक बाजा होता है, जो हिरन के सींग का बनता है । उसी तरह का बाजा भीर बड़ी तेज़ आवाज़ का होता है । बनता वह तांबे

का है। सँपेरे पुंगी बजाते हैं, जिसका दूसरा नाम बीन भी है। वह तुम्बी भी कहलाती है और लौकी या पेठे से बनती है। बड़े मधुर स्वर का तारों के समूह का एक बाजा मुचंग होता है, जिसे अलग से ही आवाज़ से बज़ाते हैं।

घन किस्म के बाजे मिट्टी, लकड़ी आदि के खोखले पर मुँह पर चमड़ा चढ़ा कर बनाए जाते हैं। ध्वनि उनकी मन्द्र-गंभीर होती है, जैसे मेघ के गर्जन की, रथ की आवाज़ की। नगाड़ा या नक्कारा शायद इस प्रकार के बाजों में सबसे प्राचीन है। उसी का दूसरा नाम संभवतः पटह भी है जो महाकाल शिव की पूजा आदि में बजता है। नक्कारा नौबत में बजा करता है। नगाड़ा छोटा-बड़ा दो तरह का होता है। मर्फ़ा और ताशा नगाड़े से ही मिलते-जुलते हैं और विशेषकर देशी ढंग की शादियों में लकड़ियों से बजाये जाते हैं।

खँजड़ी हाथ से बजाया जाने वाला छोटा-सा नगाड़ा ही समझिये। थाली के शक्ल की, उससे छोटी, चमड़े से मढ़ी होती है। डफरा भी उसी शक्ल का होता है, पर खँजड़ी से कुछ बड़ा। डमरू शिव का बाजा है। बीच में पतला दोनों ओर चौड़ा, गोल; चमड़े से मढ़ा, रस्सी या तांत से ढोलक, मृदंग-से खिंचा लकड़ी का बना; दो रस्सियों में बँधी गाँठों की दोनों ओर चमड़े पर चोट से बजता है। बहुत प्राचीन

बाजा है। भालू-बन्दर नचाने वाले मदारी उसे सदा बजाते हैं।

ढोल, डफ, पखावज, मृदंग, तबले आदि ताल के बाजे हैं। पखावज पोपे की शक्ल का होता है, लकड़ी का बना हुआ। भीतर से खोखला होता है और दोनों सिरों पर चमड़ा चढ़ा होता है और चमड़ा रस्सियों से खिचा होता है। ढोल या ढोलक तो आमतौर से घरों में बजते हैं। ढोलक मृदंग की ही छोटी आकृति समझिये। तबला दो टुकड़ों में बँटा होता है। उसे दोनों हाथों से बजाते हैं। ज़मीन पर रखकर तबले का ईजाद शायद सुधार ख़ाँ ने किया पर उसके एक किस्म का नाम अमीर खुसरो के नाम से भी जुड़ा है। धमस और चाँप तबलों की तरह ही होते हैं, मिट्टी के बने। रोशन चौकी में सामने गले से लटकाकर लकड़ी से बजाये जाते हैं। इस प्रकार के बाजों में सबसे कठिन पखावज बजाना है। इन बाजों में से अधिकतर, पखावज और तबले को छोड़कर, लोकगीतों के साथी हैं।

जलतरंग

इनके अतिरिक्त लौह-तरंग, काष्ठ-तरंग, जल-

तरंग आदि भी अनेक प्रकार के बाजे हैं जिनसे हमारा मनोरंजन होता है और जो कला के स्तर पर स्वीकार कर लिये गये हैं। लोह-तरंग में लोहे के और काष्ठ-तरंग में खड़े छड़ होते हैं जिन्हें लकड़ी से बजाया जाता है। लकड़ी से ही, दोनों हाथ से जल-तरंग भी बजता है। इसमें कम-बेश पानी भरकर छोटी-बड़ी प्यालियां रख दी जाती हैं और लकड़ी की सधी चोट से जब वे बज उठती हैं तब बड़ी मधुर ध्वनि उनसे निकलती है।

कुछ बाजे इकट्ठे बजाये जाते हैं। ये भारतीय आर्केस्ट्रा के बाजे हैं। ये साधारणतः दो प्रकार के हैं। शहनाई और

भारतीय आर्केस्ट्रा

रोशन चौकी। ऐसे ही नौबत भी है। रोशन चौकी में चार बजाने वाले होते हैं, नौबत में नौ। नौबत राजद्वारों पर बजा करती थी। शहनाई एकत्र नादों का बहुत ही मधुर आर्केस्ट्रा है। इसमें कभी-कभी मुँह से गाने वाले भी साथ चलते हैं। बनारस के शहनाई बजाने वाले इस फ़न के आजकल गहरे उस्ताद हैं।

इस प्रकार आदमी ने स्वयं तो गाया ही; उसने लोहे, लकड़ी, मिट्टी में भी प्राण फूँक दिये हैं। उनसे भी मनचाहा स्वर निकाल कर जीवन को रसमय बनाने का सफल प्रयत्न किया है। बाजों बिना गाना-नाचना बिल्कुल फीका लगता है। भोजन में जो स्थान नमक का है वही स्थान संगीत में बाजे का है।

६. नृत्य

नृत्य : नाचना भी गाने की ही तरह मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। उल्लास और आनन्द के अतिरेक से आदमी नाच उठता है। आनन्द सभ्य और बनैले दोनों प्रकार के मनुष्यों में होता है। दोनों प्रकार के मानवों में इसी से नाच का महत्व है।

नाच तो शायद गान से भी पुराना है। कुछ अजब नहीं जो आदमी बोलने के पहले भी नाचता रहा हो। बोलना तो आदमी ने धीरे-धीरे सीखा, चेष्टायें-मुद्रायें तो भाषा से पहले ही बन चुकी थीं, और नाचना चेष्टाओं-मुद्राओं के दायरे की चीज है। कहते हैं कि सबसे पहले शिव ने पार्वती के साथ डमरू बजाकर नाचा और तब जो वायु में तरंग उठी वही घनीभूत—ठोस हो गयी, उसी से जड़ पदार्थ बना और सृष्टि शुरू हुई। इस प्रकार तांडव नृत्य में नाचते शिव की अद्भुत वेगवान् तांबे-पीतल की मूर्तियां दक्षिण भारत में बनी हैं। भारतीय मूर्तिकला में भी नृत्य का बड़ा योग रहा है। मन्दिरों आदि पर बनी नारी-मूर्तियों के दम-खम नृत्य के ही हैं। उनमें नाच की अनेक मुद्रायें

ताण्डव नृत्य

भरी गई हैं। उनकी लचक देखते ही बनती है। इस लचक को शास्त्रीय भाषा में भंग कहते हैं। त्रिभंग की मुद्रा में खड़ी
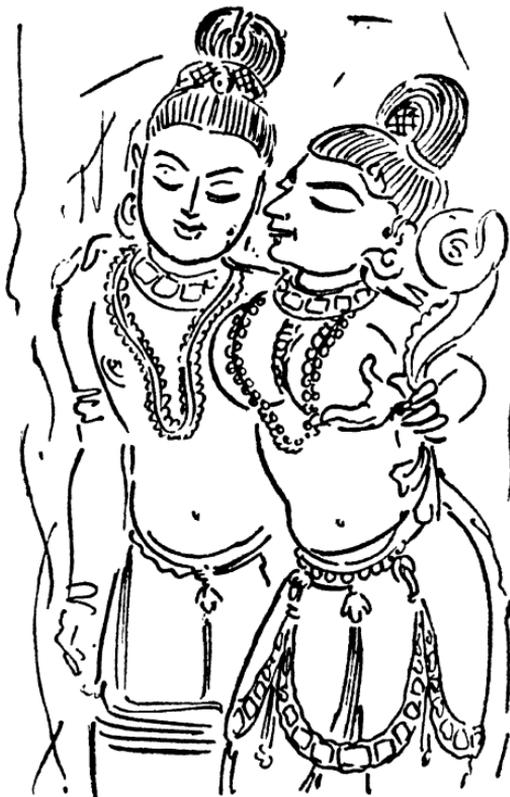
त्रिभंग मुद्रा

अनन्त मूर्तियाँ खजुराहों के मन्दिरों पर बनी हैं।

आर्यों के प्राचीन वेदों में भी नृत्य का ज़िक्र हुआ है। लिखा है कि उषा नित्य प्रातः पूर्व के आकाश पर नर्तकी की तरह छाती खोले अधनंगी नाचती हुई आती है। उर्वशी आदि अप्सरायें भी नाचने का काम करती हैं और उनकी परम्परा बाद

में मन्दिरों में नाचने वाली देवदासियों में सुरक्षित हो जाती है। कालिदास ने उज्जैनी के महाकाल शिव के मन्दिर में चँवर लेकर नाचने वाली नारियों का उल्लेख किया है।

वेदों में मर्दों और औरतों के मिलकर टोली बनाकर नाचने का भी जिक्र हुआ है। इस प्रकार के नाच एक मेले में हुआ करते थे जिसे 'समन' कहते थे । फिर ऐसा मिला-जुला नाच-गान पीछे 'समाज' या समज्जा' कहलाने लगा, जिसकी बुराइयों से ऊबकर राजा अशोक ने उसे बन्द कर दिया।

टोलियों में मिलकर नाचना सभ्य-असभ्य दोनों प्रकार के मनुष्यों को प्रिय रहा है और है । आज भी संसार के सारे देशों में यह टोली-नाच प्रचलित है। हमारे देश में निश्चय वह मर चुका है और जिन कुछ एक—अहीर आदि—जातियों में वह अभी हाल तक चलता भी रहा है उसका भी नागरिकता की अद्‌भुत व्याख्या ने प्रायः अन्त ही कर डाला है। चीन में इस प्रकार की प्रथा न थी पर उस देश ने नये सिरे से इसका अब प्रचलन किया है और अनेक अवसरों पर वहाँ हज़ारों नर-नारी एक साथ टोलियाँ बनाकर गाते-नाचते हैं।

हमारे देश में तो इस प्रकार के नृत्य बस आदि बासियों के जीवन में रह गये हैं। उराँव, मुंड आदि टोलियाँ बना-

कर अद्भुत वेगवान नृत्य करते हैं। इसी प्रकार का नृत्य मनोपुरी नाच भी है। उसने प्रायः शास्त्रीय रूप धारण कर लिया है। पर है वह अत्यन्त आकर्षक। ऐसे ही नाच भारत के गाँवों में भी पूरी टोली के तो नहीं पर दो-दो तीन-तीन आदमियों-औरतों के प्रचलित हैं जो अत्यन्त वेगवान और रस-वर्षक हैं।

धोबियों, कहारों, गोंडों आदि के नाच तो गजब की ताज़गी रखते हैं। होली के अवसर पर जोगीड़ा कह-कह कर जो पूरबी इलाकों में नाच नाचा जाता है वह भी कम आकर्षक नहीं होता। उस नाच में लड़के नाचते हैं और भाँड विदूषक बनकर भँडैती करते हैं। पूरब में 'विदेशिया' में भी इसी प्रकार लड़के नाचते हैं। अनेक जगहों पर तो पतुरिया या तवायफ़ के नाच से इन लड़कों के नाच अधिक चाव से देखे जाते हैं।

देशी नाच को लोक-जीवन के प्रति नव जाग्रति ने इधर अधिक महत्व दिया है। इंडियन पीपुल्स नेशनल थियेटर (इप्टा)ने इसका पुनरुद्धार किया है। उदय शंकर ने भी शास्त्रीय और देशी नाच की मुद्राओं को एकत्र कर एक नये अत्यंत आकर्षक वेगवान् नृत्य कला का सृजन और वर्धन किया है। उदयशंकर, रामगोपाल, रुक्मिणी, राधा, रागिनी आदि के प्रयास से भारतीय नृत्य के पुनरुद्धार और नव-निर्माण में

बड़ी सहायता मिली है। उनके प्रदर्शनों से देश-विदेश में सर्वत्र भारतीय नृत्य कला का सुयश फैला है और उसके प्रति विशेषकर अपने देश में नयी चेतना उत्पन्न हुई है।

अब हम संक्षेप में शास्त्रीय नृत्य का उल्लेख करेंगे। भारतीय नृत्य भी गायन की ही भाँति प्रधानतः दो प्रकार का है। एक हिन्दुस्तानी या उत्तर भारतीय दूसरा दक्षिण भारतीय या कथकली और भरतनाट्यम्। दोनों ही तीनों प्रकार के नृत्य शास्त्रीय दृष्टि से असाधारण क्षमता वाले हैं और उनकी साधना बड़ी रुचि-सुरुचि से इस देश में होती रही है।

उत्तर भारत में जिस नृत्य-शैली की साधना-आराधना हुई है उसे कथक-नृत्य कहते हैं। इसे पेशवाज़ पहनकर नाचा जाता है। इसका संरक्षण और विकास विशेषतः मुसलमान-दरबारों में हुआ, वैसे है यह इस देश का काफ़ी प्राचीन नृत्य। इस शैली के नाच में प्रधानतः कृष्ण और गोपियों के, सँपेरे, मोर और पानी भरनी के, घट पर घट रखकर चिराग़ ले चलने के, कहरवा आदि हैं। अनेक ऐसे भी हैं जो बताशों पर नाच लेते हैं और बताशे नहीं टूटने पाते। अद्भुत कोमल पदस्पर्श ऐसे नाचने वालों के होने चाहियें।

कथक-नृत्य में गान, और ताल नाच के साथ-साथ चलते हैं। मर्द, औरत दोनों ही इसमें पेशवाज़ पहनते हैं।

कथक नृत्य

इस शैली के नृत्य की रक्षा और प्रसार विशेषकर तवायफ़ों और रंडियो ने की है। उन्होंने अपने पेशे में नृत्य को विशेष

स्थान दिया है। अत्यन्त प्राचीनकाल से विशेष अवसरों पर वे गृहस्थों के यहाँ पुत्र-जन्म, विवाहादि में जाकर नाचती रही हैं। बाण की 'कादम्बरी' में उनके नाचने का ज़िक्र है। 'हर्ष-चरित' में भी हर्ष के जन्म पर नाचने के लिये वेश्यायें बुलाई गई थीं। यह दरबारी प्रथा अभी हाल तक जीवित रही है। एक समय तो जब संकीर्ण सुधारवाद के मारक आन्दोलन ने नाचने-गाने का बायकाट शुरू कर दिया था तब गहरी कुंठा बर्दाश्त करके भी तवायफ़ों और उनके उस्तादों ने इस कला को ज़िन्दा रखा, मरने नहीं दिया।

वेश्याओं और बाइयों के अतिरिक्त देश के अनेक नृत्याचार्यों के घरानों ने भी नृत्य कला की साधना और उसकी रक्षा की। लखनऊ, जयपुर और काशी के 'घराने' इस दिशा में बड़े तत्पर रहे हैं। पर अब इस कथक-शैली का काफ़ी अधिक ह्रास हो चुका है, यद्यपि देश में जो अनेक नृत्य की संस्थाएँ पुर्नजाग्रति के परिणामस्वरूप खुल गई हैं उनसे आशा है, कि इस दिशा में कुछ प्रोत्साहन मिलेगा। अनेक गृहस्थ भी अपनी कन्याओं को कथक नृत्य की शिक्षा देकर उस सम्बन्ध की घिनौनी भ्रान्ति का निराकरण कर रहे हैं।

दक्षिण भारत की नृत्य-शैलियाँ नितान्त शास्त्रीय या मार्गीय हैं। ये साधारणतः दो हैं—भरतनाट्यम् और

कथकली। ये दोनों शैलियाँ भारतीय नृत्य और नाट्य की प्राचीन शैलियाँ हैं और इन पर बाहर की जातियों की कला का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी से मुसलमान-दरबारों की संरक्षा और प्राणवान सहायता से भी ये वंचित रह गई हैं। इनकी साधना और संवर्धन शुद्ध दक्षिण में ही हुआ है। वहाँ भी इन शैलियों के अपने-अपने घराने हैं जो अपनी नृत्य-साधना के लिये विख्यात रहे हैं। इधर पश्चिमी देशों में जो भारतीय नृत्य का प्रचार हुआ है तो अनेक विदेशी भरतनाट्यम् सीखने दक्षिण भारत आये हैं। इनमें अमेरिकन नर्तकी रागिनी देवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भरतनाट्यम् का सम्बन्ध संभवतः नाट्य शास्त्र के

भरतनाट्यम्

रचयिता भरतमुनि से है। भरत की बनाई शैली में यह नृत्य नाचा जाता है। उसमें नाचने वाले गाते नहीं। वह मूक नृत्य है। केवल मुद्राओं से अंगों के संचालन और उँगलियों के कम्पन से उसमें भावों का प्रदर्शन होता है। इसके अनेक साधक दक्षिण में हैं और राधा, रामगोपाल आदि ने इस शैली को उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में रुक्मिणी अरंडेल का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय रहा है।

कथकली भी दक्षिण की ही नृत्य-शैली है। अत्यन्त भावपूर्ण और कठिन मुद्राओं की धनी यह शैली भी है।

कथकली नृत्य

उंगलियों और अंगों के संचालन से ही इसमें क्रोध, प्रेम, राग, द्वेष, युद्ध, स्नेह आदि का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें बड़ी साधना की आवश्यकता होती है और इसे सीखते सालों लग जाते हैं।

कथकली विशेषतः और मूलतः केरल का नृत्य-प्रयोग है। इसमें कथाओं का प्रदर्शन होता है और यह नाटक के बहुत निकट है। केवल इसमें ध्वनि नहीं होती, कथोपकथन शब्दों द्वारा नहीं होता, केवल मुद्राओं द्वारा होता है। प्राचीनकाल में केरल में अनेक संस्कृत के नाटक संक्षेप करके खेले जाते थे। उसमें चेहरे लगाकर अनेकानेक रूप धारण करने की आवश्यकता होती थी। जब उसका मूक नृत्य में विकास हुआ तब शब्द तो लुप्त हो गया पर मूक चेष्टायें और मुद्रायें बनी रहीं और वातावरण बनाये रखने के लिये चेहरे भी कायम रखे गये।

इस शैली के नृत्य में प्राचीन पौराणिक कथायें, कंस, बाण आदि असुरों के वध की कथा मुद्राओं और नृत्य द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं। इसी से इस शैली का नाम ही कथ-कली पड़ गया है। इसका भी इधर पुनरुद्धार और प्रचार हुआ है; देश में भी, विदेशों में भी। शीरीं-बहनें अपने गुरु कृष्णकुट्टी के साथ इसके सफल प्रचार में बड़ा प्रयास कर रही हैं और इस शैली के प्रदर्शनों में भी बड़े दर्शक आते हैं।

उपसंहार

संगीत—गायन, वादन और नर्तन—भारत के निवासियों की सम्मिलित साधना का परिणाम है। हमने पहले के पृष्ठों में देखा है कि किस प्रकार हिन्दू-मुसलमान दोनों ने गाने, बजाने, नाचने तीनों विधियों के संगीत में समान रूप से हाथ बँटाया है। वास्तव में कला और विज्ञान में कोई मजहबी कट्टरता या पूर्वाग्रह काम नहीं कर सकता, वह उसकी हानि निःसन्देह कर सकता है। इसमें तप और साधना की आवश्यकता होती है और दोनों ने इसकी साधना और प्रसार में तप किये हैं।

कला के क्षेत्र में छुआछूत या हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं चल पाता। इसकी अपनी परम्परायें हैं जिन्हें इसके आचार्यों और शिष्यों को निभाना पड़ता है। इन परम्पराओं को निभाकर के ही हिन्दू-मुसलमान दोनों इसे सिरज और प्रसारित कर सके हैं। यह देखा गया है कि मुसलमान आचार्य और शिष्य ने शुद्ध हिन्दूनिष्ठा का संगीत सिखाने

और सीखने में निर्वाह किया है। देखा गया है कि हिन्दू शिष्य ने मुसलमान गुरु की जीभ से जीभ तक छुलाकर एक पुरानी प्रथा को निभाया है। महत्व जीभ से जीभ मिलाने में नहीं है, यह केवल प्रतीक है जो सद्भाव और पूर्वाग्रह के अभाव को कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करता है।

• • •